महोपाध्याय-श्री समयसुन्दरगणिरचिताः

मेघदूत-प्रथमपद्यस्याभिनव-त्रयोऽर्थाः

(मेघदूत प्रथम पद्य के ३ अभिनव अर्थ)

सं. म. विनयसागर

"महाराणा कुम्भा रा भींतड़ा अर समयसुन्दर रा गीतड़ा" की प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार महोपाध्याय समयसुन्दर अकबर प्रदत्त युगप्रधान पदधारक श्री जिनचन्द्रसूरि के प्रथम शिष्य श्री सकलचन्द्रगणि के शिष्य थे। सकलचन्द्रगणि का छोटी अवस्था में स्वर्गवास हो गया था।

समयसुन्दरजी ने अपनी प्रत्येक कृतियों में 'खरतरगच्छीय श्री जिनचन्द्रसूरि के प्रथम शिष्य सकलचन्द्रगणि का मैं शिष्य हूँ' ऐसा उल्लेख किया है, किन्तु कुछ विद्वानों ने 'तपागच्छीय सकलचन्द्रगणि का शिष्य मानकर समयसुन्दरजी तपागच्छ के हैं', इस प्रकार का प्रतिपादन किया है जो कि पूर्णतया भ्रामक है।[१]

महाकववि धनपाल ने "सत्यपुर महावीर उत्सव' में जिस नगर की ओर संकेत किया है उसी सत्यपुर अर्थात् सांचोर में कवि ने जन्म लिया था। ये पोरवाल (प्राग्वाट) जाति के थे और इनके माता-पिता का नाम लीलादेवी और रूपसी था। मेरे मतानुसार इनका जन्म वि.सं. १६१० के लगभग हुआ था। वादी हर्षनन्दन ने अपने समयसुन्दर गीत में "नवयौवन भर संयम ग्रह्यौजी" के अनुसार अनुमानतः वि.सं. १६२८-३० के मध्य इनकी दीक्षा हुई होगी। वाचक महिमराज (जिनसिंहसूरि) और समयराजोपाध्याय इनके शिक्षा-गुरु थे। विक्रम सम्वत् १७०३ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अहमदाबाद में इनका स्वर्गवास हुआ था। इनकी विशाल शिष्य परम्परा थी जो कि २०वीं शताब्दी तक चली।

समयसुन्दरजी को गणि पद वि.सं. १६४१ से पूर्व ही जिनचन्द्रसूरि ने

१. तपागच्छके वाचक सकलचन्द्रगणि अत्यधिक प्रसिद्धिप्राप्त विद्वान् थे, संयमी थे। उनकी अनेक रचनाएं उपलब्ध है। भ्रान्तिका कारण इनकी इतनी बडी प्रसिद्धि है। अन्यथा जान बूझकर कोई ऐसी भ्रान्ति प्रसारित करे यह असंभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने हाथों से प्रदान किया था। वि. सम्वत् १६४९ में इनको वाचनाचार्य पद प्रदान किया गया था। विक्रम सम्वत् १६७७ के पश्चात् स्वयं के लिए पाठक शब्द का उल्लेख मिलता है अतः इससे पूर्व ही इनको उपाध्याय पद प्राप्त हो गया होगा।

कविवर समयसुन्दरजी केवल जैनागम, जैन साहित्य और स्तोत्र साहित्य के धुरन्धर विद्वान् ही नहीं थे अपितु व्याकरण, अनेकार्थी साहित्य, लक्षण, छन्द, ज्योतिष, पादपूर्ति साहित्य, चार्चिक, सैद्धान्तिक, रास–साहित्य और गीति साहित्य के भी उद्भट विद्वान् थे।

पूर्ववर्ती कवियों द्वारा सर्जित द्विसन्धान, पञ्चसन्धान, सप्तसन्धान, चतुर्विंशति सन्धान, शतार्थी, सहस्रार्थी कृतियाँ तो प्राप्त होती हैं जो कि उनके वैदुष्य को प्रकट करते हैं, किन्तु समयसुन्दरने "राजानो ददते सौख्यम्" इस पंक्तिके प्रत्येक अक्षर के व्याकरण और अनेकार्थी कोषों के माध्यम से १-१ लाख अर्थ कर जो अष्टलक्षी / अर्थरत्नावली ग्रन्थ का निर्माण किया, वह तो वास्तव में इनकी बेजोड़ अमर कृति है। समस्त भारतीय साहित्य में ही नहीं अपितु विश्वसाहित्य में भी इस कोटि की अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं हैं। 'एगस्स सुत्तस्स अणंतो अत्थो" को प्रमाणित करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना विक्रम सम्वत् १६४९ में लाभपुर (लाहोर) में की और काश्मीर–विजय–प्रयाण के समय सम्राट् अकबर को विद्वत्सभा में सुनाया था। भाषात्मक लघुगेय ५६३ कृतियों का संग्रह कर "समयसुन्दर कृति कुसुमाञ्जलि" के नाम से श्री अगरचन्द–भँवरलाल नाहटा ने विक्रम संम्वत् २०१३ में प्रकाशन किया था। इस कवि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का परिचय प्राप्त करने के लिए मेरे द्वारा लिखित **महोपाध्याय समयसुन्दर** पुस्तक द्रष्टव्य है।

महाकवि कालिदास रचित **मेघदूत** नामक लघु काव्य जन–जन की जिह्वा पर विलास कर रहा है। इस पर जैन श्रमणों द्वारा रचित निम्न टीकाएं प्राप्त हैं – १. आसड कवि – रचना सम्वत् १३ वीं शती, २. श्रीविजयगणि, ३. सुमतिविजयगणि, ४. चारित्रवर्धनगणि ५. क्षेमहंसगणि, ६. कनककीर्तिगणि ७. ज्ञानहंस, ८. महिमसिंहगणि, ९. मेघराजगणि, १०. विजयसूरि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेघदूत रसिक कवियों का प्रिय काव्य रहा हैं, इसलिए इस पर पादपूर्ति साहित्य लिखकर जैन कवियों ने कवि कालिदास को अमर बना दिया है। जैन कवियों द्वारा रचित **मेघदूत पादपूर्ति** के रूप में निम्न काव्य प्राप्त होते हैं –

१. पार्श्वाभ्युदय काव्यः जिनसेनाचार्य, प्रत्येक चरण की पादपूर्ति की गई है, डॉ. के. बी. पाठक द्वारा सम्पादित होकर सन् १८९४ में प्रकाशित हुआ हैं।

२. जैनमेघदूतम्ः मेरुतुंगसूरि, इस पर शीलरत्नगणि महिमेरुगणि आदि की टीकाएँ भी प्राप्त है। जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है।

३. नेमिदूतम्ः विक्रमकविः उपाध्याय विनयसागर द्वारा सम्पादित होकर सन् १९५८ में दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ है।

४. शीलदूतम्ः चारित्रसुन्दरगणि, सं. १४८४ः यशोविजय जैन ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित।

५. चन्द्रदूतम्ः विमलकीर्ति, सं. १६८१ः

६. मेघदूतसमस्यालेखः महोपाध्याय मेघविजय, सं. १७२७ः मुनि जिनविजय सम्पादित विज्ञप्ति लेख संग्रह में सन् १९६० में प्रकाशित।

७. चेतोदूतम्ः

८. हंसपादाङ्कदूतम्ः श्री नाथुरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला के पृष्ठ ४६ में इसका उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त जैनेतर कवियों में अवधूत रामयोगी रचित (सं. १४२३) सिद्धदूतम्ः श्री हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावलि, पाटण के तृतीय ग्रन्थाङ्क के रूप में सन् १९२७ में प्रकाशित और आशुकवि पं. नित्यानन्दशास्त्री रचित हनुमद्दूतम् : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित भी प्राप्त होते हैं।[२]

इस ग्रन्थ में रचना सम्वत् प्राप्त नहीं है, किन्तु इसके द्वितीय अर्थ में ''अस्वाधिकारप्रमत्तश' इसका अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है ''साभिप्रायं

---

२. उपाध्याय विनयविजयकृत इन्दु दूत और सांप्रतमें हुए स्व. आ. श्रीधर्मधुरन्धर सूरिकृत मयूरदूत भी इसी परम्परा की रचनाएं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतत् विशेषणं परिग्रहत्यजनेन उद्धृतक्रियत्वात्'' । यह क्रियोद्धार जिनचन्द्रसूरि ने विक्रम सम्वत् १६१४ में किया था । टीकाकार जिनचन्द्रसूरि के लिए ''खरतरगच्छाधीश्वर'' शब्द का प्रयोग तो अवश्य करता है, किन्तु सम्राट् अकबर द्वारा प्रदत्त ''युगप्रधान पद'' का प्रयोग नहीं करता है, अतः इसका रचना समय १६४१ और १६४९ के मध्य का माना जा सकता है क्योंकि समयसुन्दरजी की रचना भावशतक की विक्रम सम्वत् १६४१ की प्राप्त है ।

प्रस्तुत कृति में कविवर समयसुन्दर ने टीकाकारों द्वारा सम्मत अर्थ का परिहार करके मेघदूत के प्रथम पद्य की व्याख्या में व्याकरण और अनेकार्थी कोषों की सहायता से अभिनव तीन अर्थ किये हैं जो भगवान् ऋषभदेव, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि और सूर्य को उद्देश्य कर लिखे गये हैं ।

सन् १९५४ में श्री अगरचन्दजी नाहटा ने इस कृति की पाण्डुलिपि मुझे भेजी थी । उसी को आधार मानकर संशोधित कर प्रकाशित कर रहा हूँ । इस कृति की मूल प्रति किस भण्डार में है ? यह मेरे लिए लिखना सम्भव नहीं है, सम्भव है बीकानेर के बृहद् ज्ञान भण्डार की ही हो !

विद्वद्जनों के चित्ताह्लाद के लिए चमत्कृति प्रधान यह कृति प्रस्तुत है ।

*

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः,
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

श्री**कालिदासकृतमेघदूतकाव्यप्रथमवृत्तस्य** चतुरनरनिकरचित्तचमत्कारकृते निजबुद्धिवृद्धिनिमित्तञ्च **मूलार्थमपहाय व्याख्या** क्रियते । तत्र प्रथमं श्रीऋषभदेववर्णनमाह-

कश्चित्कान्ताविरहेत्यादि । हे ऋषभ ! हे श्रीआदिदेव ! त्वं 'अमात्वाम' इति सूत्रेण अस्मच्छब्दस्य द्वितीयैकवचने मा इति मां मल्लक्षणं स्तुतिकारकं जनं अव-रक्ष इति संटङ्कः । किंविधस्त्वं ? **कः** 'को ब्रह्मात्मप्रकाशार्ककेकिवा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युयमाग्निषु' इत्यनेकार्थवाक्यप्रामाण्यात् 'विश्वशम्भु. पत्र २१' । क-ब्रह्मा युगादिस्थितिहेतुत्वात् । अथवा पंक्तिरथ-न्यायेन ब्रह्मनाभिभूरित्यर्थः । हे **चित्कान्त** ! चिद्-ज्ञानं अर्थात्केवलज्ञानं तेन कान्तः मनोहरः चित्कान्तस्तत्संबुद्धौ हे चित्कान्त !, अतएव **हे अविर** ! 'अविशब्दो रवौ मेषे पर्वतेऽपि निगद्यते ।' इत्य**नेकार्थ-ध्वनिमञ्जरी**वचनात् अविः-सूर्यस्तद्वद्राजते यः स अविरः । अविः-पर्वतोऽर्थान्मेरुस्तद्वत् स्वर्णवर्णत्वान्निष्प्रकम्पत्वादुच्चैस्तरदेहत्वाद्वा राजते यः सोप्यविरः तत्सम्बोधनं हेऽविर ! । पुनः कंविधं मां ? हि यस्मात् हगुरुणा उदकेषु गमितं । कोऽर्थः ? 'हं हर्षे चैव हिंसायां' इथि **विश्वशम्भु**. (प. ११५) वचनात् । हं-हिंसा तदुपदेष्टा तदुपलक्षितो वा गुरुः हगुरुः, अथवा हः-क्रोधस्तेनोपलक्षितो मध्यपदलोपिसमासे गुरुर्हगुरुः । अत्र हः-क्रोधवाची । यथाह **वररुचिः** 'ह क्रोधवाचीति' (प. ४४) क्रोधश्चात्रोपलक्षणं । तेन क्रोधाद्या चत्वारोऽपि कषाया गृहीतव्याः । ततस्तेन हगुरुणा । **उदकेषु** इति, उत्प्रबलानि-उत्कटानि । 'अकं-दुःखाघयोः' इति श्री**हैमानेकार्थ**(२-१)वचनात् । अकानि-दुःखानि पापानि वा उदकानि नानाविधत्वात्तेषां बहुत्वं तेषु गमितं प्रापितमित्यर्थः । कुगुरुर्हि हिंसोपदेशदानादिना प्राणिनो दुःखेषु पातयतीति । पुनः **हे स्वाधिकारप्र** ! स्वस्य आत्मनोऽधिकारः स्वाधिकारस्तीर्थकरपदरूपः, तं प्राति-पूरयति इति स्वाधिकारप्रः, निजभक्तिमतां सतां स्वतुल्यकारकत्वात् तत्सम्बोधने हे स्वाधिकारप्र ! किंविधेन कुगुरुणा ? **मत्तशापा** मत्तः-दृप्तः ततः शापं-आक्रोशं आचष्टे इति, शापयतीति णिजि तल्लुकि च शाप्, ततः मत्तश्चासौ शाप् च मत्तशाप् तेन मत्तशापा । अथवा **अस्वाधिकालप्रं** अत्त शापा इति पदत्रयविश्लेषः कर्त्तव्यः, तदा अयमर्थः । किंविधं मां ? अस्वाधिकालप्रं न स्वः अस्वः शत्रुभूत आधिर्मानसी व्यथा अस्वाधिस्तेन कालः-मरणं अस्वाधिकालोऽसमाधिमरणं बालमरणमिति यावत् तं प्रैति प्रकर्षेण पाति-प्राप्नोति, डे प्रत्यये अस्वाधिकालप्रस्तं । हे अत्त ! हे मातः ! तद्वद्वत्सलत्वात् । अत्र श्लेषत्वाद्विसर्गनाशो न दोषाय । यदुक्तं **रुद्रटालङ्कारटीकायां नमिसाधुना** 'विसर्जनीयाभावाभावयोर्न विशेषो, यथा- 'द्विषतां मूलमुच्छेत्तुं राजवंशादजायथा । द्विषद्भ्यस्त्रस्यसि कथं वृकयूथादजा यथा । १ ।' इति । किंविधेन कुगुरुणा ? शापा पूर्ववत् । किंविधं मां ? **इना**-कामेन अस्तं-क्षिप्तं । हे अ ! 'अः स्यादर्हति सिद्धे च' इति वचनात् । हे अर्हत् ! पुनः हे **ऊग्य** ! 'ऊः पालने रक्षणे च' इति अनेकार्थतिलक. (प. ८-९) वचनात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊः-रक्षणं तदुपलक्षितो 'गस्तु गातरि गन्धर्वे शब्दसङ्गीतयोरपि' इति विश्वशम्भु. (प. २५) वचनात् । गः शब्दः ऊगो दयोपदेशस्तत्र साधुः, तत्र साधौ इति ये ऊग्यस्तत्सम्बोधनं हे ऊग्य ! हे भर्त्तुः ! इनः-स्वामिनः । स्वामिन् । किंविधस्त्वं ? यक्षः ई-लक्ष्मीं अक्ष्णोति-व्याप्नोतीति यक्षः । पुनः हे **चक्रेजनकतनय** ! चक्रेण-चक्ररत्नेन ई-शोभां जनयतीति चक्रेजनकोऽर्थाद्भरतनामा चक्रवर्ती स तनयः-पुत्रो यस्य स चक्रेजनकतनयः तत्सम्बोधनं हे चक्रेजनकतनय ! । हे **अस्नानपुण्य** ! अस्नाने स्नानाभावेन । 'पुण्यं तु सुन्दरे सुकृते पावने धर्मे ।' **इति हैमानेकार्थ** (प. ३७५) वचनात् । पुण्यः-सुन्दरः अस्नानपुण्यः । 'अनध्ययन- विद्वांसो, निर्द्रव्य-परमेश्वराः । अनलङ्कारसुभगा, पान्तु युष्मान् जिनेश्वराः ।१। इत्युक्तत्वात् । तत्सम्बोधने हे अस्नानपुण्य ! । **हे स्निग्धच्छाय** ! स्निग्धा असै(रू?)क्षा कोमला इति यावत्, 'छाया पंक्तौ प्रतिमायामर्कयोषित्यनातपे । उत्कोचे पालने कान्तौ शोभायां च तमस्यपि' इति **हैमानेकार्थ** (प. ३६३) वचनात् । छाया प्रतिमा कान्तिर्वा यस्य स स्निग्धच्छायः, तस्सम्बुद्धौ हे स्निग्धच्छाय ! । किंविधेषु उदकेषु ? अतरुषु अतन्ति सततं गच्छन्ति, अचि, अताः-प्राणिनस्तेषां । 'रु शब्दे रक्षणेऽपि च भये च' इतिवचनात् **सौधाकलशात्** (प. ३७) रुः-भयेभ्यस्तानि तेषु अतरुषु । किंविशिष्टं मां ? **असतिं** 'पूजायां तिः' इति **विश्वशम्भु** (प. ६१) वचनात् । तिः-पूजा तया सह वर्तते यः स सतिः, न सतिरसतिस्तं पूजादिरहितं दरिद्रं-वराकमित्यर्थः । अत्र 'इवर्णादिरस्वे स्वरे यवरलं' इति मतान्तरमाश्रित्य पञ्चमीव्याख्याने अतरुषु अग्रे असतिं इत्यत्र उकारात्परे वकारे कृते लोकादिति च कृते अतरुषुवसतिं इति रूपसिद्धिः । हे **गिरिराम** ! वाण्यां मनोहर ! किं भूतेषु उदकेषु ? **आश्रमेषु** आ-सामस्त्येन श्रमः खेदो येभ्यस्तानि तेषु ।

नन्वत्र चतुस्त्रिंशदतिशयसंग्राहकातिशयचतुष्टयमध्ये कः केन पदेनोच्यते सूच्यते वा इत्यभिधीयते-चित्कान्तेति पदेन ज्ञानातिशयः ।१। स चापायापगमातिशयमन्तरेण न संभवति अतोऽनेनापायापगमातिशयोऽप्याक्षिप्तः ।२। तथा ऊग्येति गिरिरामेति वा पदेन वचनातिशयः ।३। भर्तुः इनेति पदेन पूजातिशयः ।४। इति चतुष्टयं ज्ञेयम् ।

श्रीऋषभदेववर्णनेन प्रथमोऽर्थः सम्पूर्णः ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कश्चित्कान्तेतिकाव्यस्य, विचक्षणचमत्कृते ।
*अर्थत्रयमिदं चक्रे, **गणिः समयसुन्दरः** ॥१॥*

॥ इति प्रथमोऽर्थः ॥

***

अथ श्रीखरतरस्वच्छगच्छनभोङ्गणदिनकराणां श्रीजिनचन्द्रसूरिसूरीश्वराणां वर्णनेन प्रकारान्तरेण द्वितीयमर्थमाह-

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः,
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु ।
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

कश्चित्कान्तेत्यादि । हे **इजनकतनय** ! त्वं वसति रामगिर्याश्रमेषु इन इति सम्बन्धः । कोऽर्थः ? । इः इकारस्तेनोपलक्षितो जनः जिनः । तथा 'कं शिरो जलमाख्यातं' इति **वररुचि** (प. ७) वचनप्रामाण्यात् । कं-जलं, तद्यो -ज्यादाधाराधेययोरभेदोपचारात् प्राणयोगात्प्राणः प्राणिन इतिवत्, समुद्रस्तस्य तनयः-पुत्रः कतनयश्चन्द्रः, ततः जिनश्चासौ कतनयश्च जिनकतनयः अथवा जिनपूर्वकः कतनयो जिनकतनयः जिनचन्द्रः तस्य सम्बोधनं हे जिनचन्द्र ! श्रीमत् खरतरगच्छाधीश्वर ! । **वसतिः** रात्रिस्तद्वद्रामः श्यामो गिरिर्वसति रामगिरि-रञ्जनगिरिस्तस्मै आ-ईषत् श्रमो गमनाय खेदो येषां ते वसतिरामगिर्याश्रमाः । जङ्घाचारणविद्याचारणलब्धिमन्तः साधवः तेषु इनः-सूर्य इवाचारः(चर) तेषु मुख्यो भवेत्यर्थः । किंविशिष्टं(ष्टः) त्वं ? **चित्**-अवधारणे कः । 'कः-सुखकारी काकुर्ध्वनिविशेषः' इत्यादि **वाग्भटालङ्कारव्याख्यानात्** सुखकारी । हे **कान्ताविरहगुरुण** ! कोऽर्थः ? 'कै गै रैं इति शब्दे' इति धातुपाठवचनात् कायति-शब्दं करोति इति अर्थात् कं-शास्त्रं वाच्यवाचकभावसम्बन्धेन वाचक-त्वात्तस्य । ततः कस्य-शास्त्रस्य अन्ते-पर्यन्ते अटति-गच्छतीति कान्ताः एवंविधो विरह इति शब्दो यस्य स कान्ताविरहः, श्री**हरिभद्रसूरिर्विरहाङ्क**त्वात्तस्य । ततः स चासौ गुरुश्च कान्ताविरहगुरुः तद्वत् 'णः प्रकटे निश्चले प्रस्तुते ज्ञानबन्धयोः' इति **सुधाकलश** (प. २२) वचनात् । णः-ज्ञानं यस्य स कान्ताविरहगुरुणः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकलशास्त्रप्रवीणत्वात् । अथवा तद्वत् गुरुः-गरिष्ठो णः-ज्ञानं यस्य स कान्ताविरहगुरुणस्तत्सम्बोधनं हे कान्ताविरहगुरुण ! पुनः हे **अस्वाधिकारप्रमत्तश** ! स्वं-द्रव्यं परिग्रहं(हः) इति यावत् तदभावोऽस्वं परिग्रहाभावः, स अधीयते यस्मिन्निति अस्वाधिः त्यक्तपरिग्रहत्वेन निर्ग्रन्थत्वात् । साभिप्रायं चैतत् विशेषणं परिग्रहत्यजनेन उद्धृतक्रियत्वात् । तथा रलयोरैक्यात् कलानां द्विसप्ततिसंख्यानां पुरुषसम्बन्धिनीनां चतुःषष्टिसंख्याकानां महिलासम्बन्धिनीनां वा समाहारः कालं, तत्प्राति-पूरयतीति कालप्रः-धर्मः । यतो हि सर्वा अपि कला धर्मादेव प्राप्यन्ते । अथवा कस्य-सुखस्य आरं-प्राप्तिं प्रातीति कालप्रः, तं मथ्नातीति कालप्रमथ्, पापं तदेव 'तकारः कथितश्चौरे' इति **वररुचि**(प. २३)वचनात् तः-तस्करस्तत्र 'शः सूर्ये शोभने शीते' (विश्वशम्भु. प. १०८) इत्युक्तत्वात् श इव-सूर्य इव यः स कालप्रमत्तशः । ततः अस्वाधिश्चासौ कालप्रमत्तशश्च अस्वाधिकालप्रमत्तशस्त-त्सम्बोधनं हे अस्वाधिकालप्रमत्तश ! तथा **हे अये** ! अपगतः इः-कामो यस्मात् सो अयिस्तत्सम्बोधने हे अये ! अदेतः स्यमोर्लुगिति सिलुक् । हे **न अस्तंगमितमहिम** ! अस्तं गमिता महिमा-महत्त्वं यस्य सः अस्तंगमितमहिमः एवंविधो न सर्वदैव जाग्रन्महिमत्वात् । अथवा अस्तंगमितो 'मो मन्त्रे मन्दिरे' (विश्वशम्भु. प. ९४) इत्युक्तत्वात्, मः-मन्त्रं सूर्यादिमन्त्रो यत्र यस्य वा स अस्तंगमितमहिमः । अथवा अस्तंगमिता 'मा वंतः स्त्री रमार्च्चयोः' (विश्वशम्भु. प. ९५) इतिवचनात् । मह्यां-पृथिव्यां मा रया-शोभा अर्चा पूजा यस्य सः अस्तंगमितमहिमः । एवंविधो न । तथा हे **अवर्षभोग्य** ! अवनं अवः-षड्जीवनिकायरक्षणं तं ऋषन्ति-जानन्तीति अवर्षाः-साधवः तेषां 'भोगस्तु राज्ये वेश्याभृतौ सुखे धनेऽहिकायफणयोः पालनाभ्यवहारयोः' इति **हैमानेकार्थ** (प. ४१-४२) **वचनात्** भोगः-पालनं सारणावारणादिकं तत्र साधुः । तत्र साधौ इति ये । अवर्षभोग्यः तस्य सम्बोधने हे अवर्षभोग्य ! किंविशिष्टः(ष्टः?) त्वं ? **भर्तुः** छाया-तीर्थकर प्रतिबिम्बं 'तित्थयरसमो सूरी' इत्याद्युक्तत्वात् । पुनः किंविशिष्टः त्वं ? **यक्षः** इः-लक्ष्मीस्तया युक्तानि अक्षाणि-इन्द्रियाणि यस्य सः । 'इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलं' इति यत्वे यक्षः रम्येन्द्रियः । पुनः हे **चक्र** ! 'चः पुंसि चेतने चन्द्रे चौरेऽहौ चारुदर्शने' इति **श्रीहैमानेकार्थत्वात्**(?विश्वशम्भु. प. ३१) । चेन-चारुदर्शनेन क्रामतीति चक्रस्तत्सम्बोधने हे चक्र ! अथवा चक्रचिह्नोपेतत्वात् चक्रः तत्सम्बोधने हे चक्र ! । तथा हे **अस्नान**-हे स्नानवर्जित ! किंविधेषु साधुषु ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्योदकेषु पुण्याय तीर्थकरचैत्यवन्दनादिरूपाय उत्-उर्ध्वं अकंते - गच्छन्ति इति पुण्योदकास्तेषु पुण्योदकेषु । पुनः किं विशिष्टेषु साधुषु ? **अतरुषु** 'तः प्रैते निःफले शान्ते' इति **विश्वशम्भु** (प. ६०) वचनप्रामाण्यात् । न विद्यते तेभ्यः प्रेतेभ्यः 'रुः सूर्ये रक्षणेपि च । भये शब्दे च' इति **सुधाकलश** (प. ३७-३८) वचनप्रामाण्यात् । रुः-भयं येषां ते अतरवस्तेषु अतरुषु । अथवा तरुषु इति कोर्थः ? वृक्षोपमेषु अनेकगुणगणपक्षिकुलाश्रयभूतत्वात् । अथवा तरुषु अर्थात् कल्पवृक्षेषु निजसेवाहेवाकिनां मनोवाञ्छितदानात् । तथा हे **स्निग्ध** ! हे मित्र ! तद्वद्धितकारित्वात् ।

कश्चित् कान्तेति काव्यस्य विचक्षणचमत्कृते ।
*अर्थत्रयमिदं चक्रे **गणिः समयसुन्दरः** ॥*

[द्वितीयोऽर्थः संपूर्णः]

***

[अथ तृतीयोऽर्थः]

अथ श्रीसूर्यदेववर्णनेन तृतीयमर्थमाह-अत्र कोपि जनो जगदुद्योतकारकं जगच्चक्षुर्भूतं परमोपकारविधायकं श्रीसूर्यं अस्तमयं दृष्ट्वा प्राह-

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः,
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

कश्चित्कान्तेत्यादि । हे **इन** ! हे सूर्य ! त्वं 'अस्तः क्षिप्ते पश्चिमाद्रौ' इति **हैमानेकार्थ** (प. १६०) वचनात्, अस्तं पश्चिमाद्रिं अस्ताचलं इति यावत्, मा अम--मा गच्छ मा अस्तमय सदा प्रकाशवान् भवेत्यर्थः । आशीर्वचनमेतत् इत्यन्वयः । किंविशिष्टः त्वं ? 'हि स्फुटार्थनिश्चयहेतुषु पादपूरणविशेषयोरपि' इति **अव्ययार्थवृत्तौ** उक्तत्वात् । हि-स्फुटं कः-प्रकाशस्तद्योगात् कः प्रकाशवानित्यर्थः । पुनः किंविशिष्टः त्वं ? **चिनोति**-अभिमतमर्थं निज-सेवाभिधायिनामिति चित् । अथवा चित् अवधारणे । हे **कान्ताविरह** ! कान्तः-मनोहरो विशिष्टफलदानात् उच्चो अविर्मेषो मेषराशिर्यस्य **स** कान्ताविः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेषराशिस्थस्य सूर्यस्य उच्चत्वात् । यदुक्तं- 'रवेर्मेषतुले प्रोक्ते' इत्यादि । तथा लहः 'लमम्बरे' इति **विश्वशम्भु** (प. १०४) वचनात् । ले-आकाशे । 'हशब्दो हास्यरसे चतुर्म(र्मु)खे चैव राजहंसे च' इति श्री **कालिदास**वचनात् । हः-राजहंसो लहः-आकाशसरोवरे राजहंसशोभां विभ्राण इत्यर्थः । ततः कान्ताविश्वासौ लहश्च कान्ताविलहः । रलयोरैक्यं चित्रादित्वात्र दोषाय । अथवा कान्तेषु-उत्तमेषु वा अविरहः-विरहाभावो यस्य स कान्ताविरहः, तेषां प्रत्यक्षत्वात् । तत्सम्बोधनं हे कान्ताविरह ! पुनः हे **गुरुण** ! 'णः प्रकटे निष्कले च प्रस्तुते ज्ञानबन्धयोः' इति **सुधाकलश**(प. २२) वचनात् । गुरोः-बृहस्पतेः सकाशात् णः-ज्ञानं यस्य स गुरुणः देवाचार्यत्वेन बृहस्पतेर्देवानां गुरुत्वात् । अथवा गुरोः-बृहस्पतेर्णो-बन्धो यत्र स गुरुणः । रविमण्डले सर्वेषां ग्रहाणां अस्तत्वात् । तथा हे **अस्वाधिकार** ! स्वानि मित्राणि कमलानि अब्जबान्धवत्वाद्रवेः तद्विरुद्धानि अस्वानि अर्थात् कुमुदानि तेषां 'आधिर्मनोत्तौ व्यसनेऽधिष्ठाने बन्धकोशयोः' इति **हैमानेकार्थ** (प. २४२) वचनात् आधिं-बन्धं करोति इति अस्वाधिकारः । अथवा शसयोरैक्यात् अश्वेषु सप्तसंख्यतुरङ्गमेषु आधिः-अधिष्ठानं करोतीति अस्वाधिकारः । अथवा अश्वेषु अधिकारो वाहनादिरूपो यस्य सः अस्वाधिकारः तत्सम्बोधनं हे अस्वाधिकार ! तथा हे शापे प्रमत्त ! शापदानविषये अलस ! न तु दुष्टदेवादिवत् शापदानादितत्परः । **हे अन** ! 'न पुनः बन्धबुद्धयोः' (अमरचन्द्रीय एकाक्षरनाममाला प. १२) इति वचनात् बन्धनरहित ! प्रकट इति यावत्, **हे गमितम** ! 'गमोऽध्वद्यूत-भेदयोः' इति हैमानेकार्थ (३२४) वचनात् । गमः-मार्गो यस्यास्तीति गमि मार्गप्राप्तं गतमित्यर्थः । लोके हि मार्गप्राप्तस्य गतमिति व्यवहृतत्वात् । ततो गमि-गतं तमं-तिमिरं यस्मादसौ गमितमः । अथवा गमनं गमः पलायनं तदस्यास्तीति गमि नाशवत्तमं-तिमिरं यस्मादसौ गमितमस्तत्सम्बोधने गमितम !। तमशब्दोऽ-कारान्तोऽप्यस्ति । **हे वर्षभोग्य** ! वर्षाणि क्षेत्राणि भरतादिरूपाणि तेषां तेषु वा भोगः परिभोगाचाररूपो वर्षभोगः तत्र साधुः 'तत्र साधौ ये' इति ये वर्षभोग्यस्तत्सम्बोधने **हे वर्षभोग्य** ! । पुनः किं० **भर्तुः** 'भं धिष्ण्ये मेषादौ' इत्य**नेकार्थ**वचनात् (महीपसचिवकृत एकाक्षरसंज्ञः काण्डः ३३) । भैर्मेषादि-राशिभिरश्विन्यादिनक्षत्रैर्वा क्रतवो वसन्तादिसंज्ञिका यस्मात्स भर्त्तुः । पुनः किंभूतो यक्षः ? 'इर्भुवि श्रिया' इति **तिलकानेकार्थ** (प. ७) वचनात् । ईं-भुवं अक्ष्णोति प्रकाशकरणेन व्याप्नोतीति यक्षः । हे **चक्रेजन** ! चक्राः-चक्रवाकपक्षिणः तेषां

तेषु वा ईः-श्रीः तस्याः जनः जननं यस्मात्स चक्रेजनः, चक्रबान्धववत् सूर्यस्य। सति हि सूर्ये चक्रवाकपक्षिणां परमानन्दः समुत्पद्यते। तत्सम्बोधने **चक्रेजन** ! पुनः हे कतनय ! कः-यमस्तनयो यस्य स कतनयस्तत्सम्बोधने हे कतनय !! हे अस्नान ! न विद्यते स्नानं तैलककोटिकादिरूपं यस्मिन् सः अस्नानस्तत्सम्बोधने **हे अस्नान** !। रविवारे हि स्नानं तापकारि स्यात्। यदुक्तं- 'आदित्यादिषु वारेषु, तापः कान्तिर्मृतिर्धनं। दारिद्र्यं दुर्भगत्वं च कामाप्तिं स्नानतः क्रमात्॥' किंविधः ? हे **उदकेषु पुण्य** ! उत्-ऊर्ध्वमकन्ति-गच्छन्ति चारेण चरन्तीति उदकाः-ग्रहाः तेषु 'पुण्यं तु सुन्दरे सुकृते पावने धर्मे' इति **हैमानेकार्थ** (प. ३७५) वचनात्, पुण्यः-सुन्दरस्तेषु मुख्येत्यर्थः। पुनः हे **स्निग्धच्छाय** ! स्निग्धा स्नेहवती छाया-निजभार्या यस्य स तत्सम्बोधने हे **स्निग्धच्छाय** ! पुनः किम्भूतेषु उदकेषु ? **अतरुषु** अनानां प्राणिनां रुः-रक्षणं येभ्यस्ते उदकास्तेषु उदकेषु। हे **वसतिल** ! वसतिं-रात्रिं लुनातीति वसतिल !। किम्भूतेषु उदकेषु ? **गिर्याश्रमेषु** गिरिः-पर्वतोऽर्थान्मेरुः तस्मादा-सामस्त्येन सर्वतः श्राम्यतीति गिर्याश्रमेषु।

[तृतीयोऽर्थः संपूर्णः]

***

कश्चित्कान्तेति काव्यस्य विचक्षणचमत्कृते।
अर्थत्रयमिदं चक्रे, **गणिः समयसुन्दरः** ॥१॥ श्री ॥

***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org